अध्याय -- ६

-०-

सन्तों का माया- निरूपण

अध्याय -- ६

-०-

सन्तों का माया-निरूपण

माया

भारतीय दर्शन-क्षेत्र में 'माया' का एक विस्तृत इतिहास है । यह 'माया' शब्द 'मा' धातु से उद्भुत हुआ है, जिसका अर्थ है--'मापक' (मीयते अनया इति) । माया वह शक्ति है, जिसके द्वारा असीमित ब्रह्म सांसारिक वस्तुओं के रूप में मापा जाता है । माया है भी वह, जो नहीं है । इसके अर्थों में समय-समय पर परिवर्तन होता रहा है । वैदिक साहित्य में इसका प्रयोग 'प्राज्ञ्य' (मानसिक शक्ति) के अर्थ में हुआ है । कालान्तर में यह 'रहस्यपूर्ण' अर्थ में परिणत हो गया[१] । रहस्यात्मक शक्ति के कारण ही इन्द्र 'मायिन' रूप में विख्यात हुए । आगे चलकर यह रहस्यात्मक शक्ति जादूगर के रूप में बदल गई जिसके अनुसार माया जादूगरिनी के अर्थ में प्रयुक्त हुई । जादूगरी का चमत्कार दर्शकों को भ्रम में डाल देता है । यह भ्रम अविद्या या अज्ञान के कारण उत्पन्न होता है, जिसके कारण वस्तु का सही रूप न दिखकर दूसरी वस्तु दिखाई पड़ती है । इस प्रकार माया हम लोगों के लिए भ्रम का कारण है । इतना ही नहीं, वरन् माया ही भ्रम-रूप है ।

१-

उपनिषदों में माया के अर्थ में परिवर्तन होता रहा, किन्तु भ्रम के रूप में नहीं। श्वेताश्वतर उपनिषद् में ब्रह्म की सृजन-शक्ति तथा सृष्टि-प्रपंच को माया कहा गया है[1]। मुण्डकोपनिषद् में माया का प्रयोग स्वप्निल-संसार के अर्थ में हुआ है। भगवत गीता में अज्ञान को माया कहा गया है। सतो गुण, रजोगुण और तमोगुण के मोह में पड़कर यह सारा संसार व इनके इतर निर्गुण अव्यय को नहीं जानता[2]। 'गीता रहस्य' में लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक ने भी माया को भ्रम तथा अज्ञान ही कहा है[3]।

श्रीमदभागवत् में माया को अप्रतीति कहा गया है--

'ऋते अर्थं प्रतीयेत न प्रतीयेत चात्मनि।
तद् विद्यादात्मनो मायां यथा भासो यथा तमः॥'[4]

अर्थात् वस्तु सही रूप में न प्रकट होकर उससे भिन्न रूप में प्रकट हो। जो वस्तु न होने पर भी अस्तित्वमय वस्तु जैसी प्रकट हो तथा जो आत्मा में वस्तु होने पर भी वैसी प्रतीत नहीं होती-- वह माया है। यहाँ भी माया को भ्रम अथवा मिथ्या ज्ञान के अर्थ में स्वीकार किया गया है।

शंकराचार्य ने 'अध्यासो नाम अतस्मिन् तद्बुद्धिः'[5] के अनुसार माया को भ्रमरूपिणी कहा है जो सांख्य में त्रिगुणात्मिका प्रकृति के नाम से अभिहित हुई है। अवस्तु में वस्तु का आरोपित होना मिथ्या ज्ञान है, यही अध्यास है'।

१- 'अस्मान्मायी सृजते विश्वमेतत् तस्मिंश्चान्यो मायया संनिरुद्धः॥' श्वे०४।९

२- 'त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत्।
मोहितं नाभि जानाति मामेभ्यः परमव्ययम्॥' गीता ७।१३

३- लो०बा० तिलक -- 'गीता रहस्य', पृ०२३८

४- श्रीमद्भागवत् २।९।३३

५- ब्रह्मसूत्र शां० भा० १।१।१।

आचार्य शंकर ने 'माया के सिद्धांत' के स्पष्टीकरण हेतु पांच उपर्युक्त उपमाओं का प्रयोग किया है --

(१) रस्सी और सर्प ।

(२) जादूगर और उसकी जादूगरी ।

(३) मरुस्थल और मृगतृष्णा ।

(४) स्वप्नद्रष्टा तथा स्वप्न ।

(५) चांदी और रेत ।

कबीर ने भी शंकराचार्य की भांति माया को भ्रम रूप में स्वीकार किया है । इस भ्रम के कारण ही सत्य वस्तु के स्थान पर हमें मिथ्या वस्तु की प्रतीति होती है । सत्य-ज्ञान से हम दूर रह जाते हैं[1] । जैसे अन्धकार में रज्जु को देखकर सर्प की भ्रांति हो जाती है तथा अज्ञानता के वशीभूत होकर मनुष्य भयभीत होने लगता है[2] । किन्तु रात्रि के अवसान पर जब सूर्य का प्रकाश फैल जाता है तब मनुष्य का भ्रम दूर हो जाता है और वह रज्जु को सर्प न समझकर उसके सही-रूप रज्जु को ही समझता है, इसी प्रकार अन्धकार के दूर हो जाने पर, ज्ञान हो जाने पर मनुष्य की बुद्धि पर आच्छादित माया का आवरण नष्ट हो जाता है[3] । कबीर ने माया को भ्रम रूप में स्वीकार करते हुए 'कंचन और कामिनी' पर केन्द्रित बतलाया है ।

कबीर ने माया के दो भेद किए हैं-- विद्यामाया और अविद्या माया । विद्या माया के द्वारा जीवात्मा परमतत्व की ओर उन्मुख होता है तथा अविद्या माया से जीवात्मा का ज्ञान शक्ति का ह्रास होता है । वह

१- 'भरम करम दोऊ मति परहरिया, झूठे नांउ सांच लै धरिया ।'क०ग्रं०,पृ०२३७

२- 'ज्यूं रजनी रजु देखत अंधियारी, डसै भुवंगम बिन उजियारी ।
झूठ देखि जीव अधिक डराई, बिनां भुवंगम डसी दुनियांई ।।'क०ग्रं०,पृ०२३७

३- 'रजनीं गत भई रवि परकासा, भरम करम धूं कैर विनासा '--क०ग्रं०,पृ०२३७

आत्म तत्व को पहचान नहीं पाता- आत्म-स्थित ब्रह्म ज्ञान से दूर रह जाता है । इसलिए कबीर जी ने ब्रह्म की प्राप्ति में सहायक विधा माया को श्रेष्ठ बताते हुए अविधा माया की कटुतर निन्दा की है--

'माया दुइ भाँति देखी ठौक बजाय ।
एक गहावै राम पै एक नरक ले जाय ।।'

अविधा माया के भी उन्होंने दो भेद किया है । मोटी (कर्म रूप) माया तथा झीनी (भ्रम रूप) माया । जिसका रेखा-चित्र इस प्रकार है:-

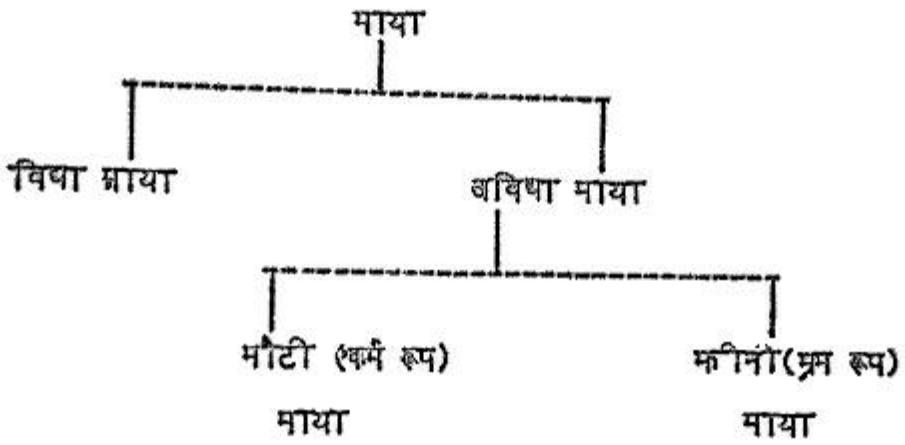

विधा माया

विधा माया के द्वारा जीवात्मा और ब्रह्म का मिलन संभव होता है । जीव जब तक भ्रम, अथवा मिथ्या ज्ञान से मुक्त नहीं हो जाता, तब तक ब्रह्म से बहुत दूर रहता है । व इस भ्रम अथवा मिथ्या-ज्ञान का निवारण विधा रूपिणी माया द्वारा ही सम्भव हो सकता है । ज्ञान की प्राप्ति हो जाने पर माया का पर्दा फट जाता है-- भ्रम दूर हो जाता है तथा आत्म स्वरूप में ही ब्रह्म का साक्षात्कार हो जाता है ।

मौटी (कर्म रूप) माया

मौटी माया से तात्पर्य उन स्थूल पदार्थों से है, जिनके प्रति हमारी आसक्ति बनी रहती है। 'कंचन और कामिनी'-- इस माया के दो स्थूल रूप हैं। कबीर ने इन्हें 'दुर्गम घाटी दोय' कहकर इनसे बचने का उपदेश दिया है तथा कहा है--

'माया की झल जग जल्या, कनक कामिणीं लागि।
कहु धौं किहि विधि राखिये, रुई लपेटी आगि[1]।।'

तात्पर्य यह कि जिस प्रकार रुई में लिपटी हुई अग्नि धीरे-धीरे रुई को जलाकर पूर्णत: भस्म करके ही छोड़ती है, ठीक वही दशा 'कनक और कामिनी' की भी है। यह कनक और कामिनी भी मनुष्य को अज्ञान में फँसाती रहती है।

इसी के अन्तर्गत कबीर ने कर्मकाण्ड, पूजा-पाठ, तीर्थ-व्रत, तथा जटा रखाना-- आदि बाह्याडम्बरों की कठोर आलोचना की है तथा इन्हें मनुष्य को अज्ञान-तिमिर में पहुंचाने वाला कहा है।

झीनी (भ्रम-रूप) माया

कनक और कामिनी रूप मौटी माया का त्याग अपेक्षाकृत सहज है, किन्तु झीनी माया का त्याग करना अत्यन्त कठिन है--

'मौटी माया सब तजै, झीनी तजी न जाय।
पीर पैगम्बर औलिया, झीनी सबनि को खाय[2]।।'

1- कबीर ग्रन्थावली, पृ०३५, साखी ३२

2- कबीर बीजक, पृ०२७६

आशा, तृष्णा, काम, क्रोध, लोभ, मोह, आसक्ति, मद, मत्सर आदि मानसिक विकारों के वशीभूत होकर मनुष्य अज्ञान-पाश में बंध जाता है। वह इस नाम रूपात्मक संसार में पड़कर जन्म-जन्मान्तर तक दुःख भोगता रहता है। क्योंकि आशा, तृष्णा तो कभी समाप्त नहीं होती, तथा वह संस्कारों के रूप में सदैव जीवात्मा के पीछे लगी रहती है[१]। यह माया तो ऐसी है कि नारद जैसे मुनि भी इसके मोह-पाश से न बच सके तो जन-सामान्य के लिए क्या कहना।

'कबीर माया जिनि मिलै, सौ बिरियां दे बांह।
नारद से मुनियर गिले, किसौ भरोसौ त्यांह ।।'[२]

इस प्रकार कबीर ने माया के तीन उपभेदों-- विद्या माया, मोटी माया तथा फीनी- माया, में विभक्त किया।

कबीरदास जी ने मोटी और फीना माया की घोर भर्त्सना करते हुए उसे विभिन्न प्रतीकात्मक रूपों में व्यक्त किया है यथा-- चोरटी रूप में, अग्नि रूप में, डोलनी रूप में, सुहागिनि रूप में, सासु के रूप में, सर्पिणी रूप में, ठगिनी रूप में तथा डांइनि रूप में आदि।

चोरटी रूप में माया

'कबीर माया चोरटी मुसि मुसि लावै हाटि।
एसु कबीरा ना मुसै जिनि कीनी बारह बाट[३] ।।'

कबीर ने माया को चोरटी कहा है जो (मनुष्यों को) छुरा छुरा कर (सांसारिक) बाजार में बेचती है। वह (केवल) कबीर को नहीं छुरा सकी, जिसने उसे नष्ट-भ्रष्ट कर दिया।

१- 'माया मुई न मन मुवा, मरि मरि गया शरीर।
आसा तृष्णा ना मुई, यौ कहि गया कबीर ।।' क०ग्रं०, पृ०२३

२- कबीर ग्रन्थावली, पृ०३५

३- डा० रामकुमार वर्मा- संत कबीर, श्लोक २०, पृ०२५०

अग्नि रूप में माया

'कबीर परदेसी कै घाघरै, चहुदिसि लागी आगि ।
खिंथा जलि कुइला भई, तागै आंच न लाग ॥'[१]

डोलनी(मटकी) रूप में माया

'कबीर माइआ डोलनी पवनु झकोलनहारु ।
संतहु माखनु खाइआ, छाछि पीऐ संसारु ॥'[२]

तथा--

'कबीर माइआ डोलनी, पवनु वहै हिवधार ।
जिनि बिलोइआ तिनि खाइआ, अवर बिलोवन हार ॥'[३]

कबीर कहता है कि माया तो एक मटकी है, जिसमें श्वास (प्राणायाम) मथानी की भांति है । जिससे सन्तों ने (तत्त्व रूपी) माखन (निकालकर) खाया, तथा (मोह,ममतारूपी) जो व तक्र बच गया, उसे ही संसार पीता है ।

तथा--

माया एक मटकी है, जिसमें श्वास (प्राणायाम) घृत धारा है(जिसने मथा उसने पाया, यद्यपि मथने वाला कोई अन्य (ब्रह्म) ही है ।

सुहागिनि रूप में माया

'सुहागिनि गलि सोहै हारु ।
संत कउ बिखु बिगसै संसारु ॥
करि सीगारु, बहै पखिआरी ।
संत की ठिठकी फिरै बिचारी ॥२॥

१- सलोक ४७ ,संत कबीर,पृ०२५३
२- सलोक १८, संत कबीर,पृ०२५०
३- सलोक १६, संत कबीर,पृ० २५०

संत भागि ओह पाछै परै ।
गुर परसादी मारहु डरै ।।
साकत की ओह पिंड पराइणि ।
हम कउ द्रिसटि परै त्रिखि डाइणि ।।३।।[१]

अर्थात् इस सुहागिनि(माया) का गला सदैव हार (सौंदर्य) से सुशोभित होता है, किन्तु यही हार सन्त के लिए विष उत्पन्न करता है । शृंगार करके यह पनिहारी (कर्कशा स्त्री) लोगों को अपने माया-जाल में फंसाने के लिए) सदैव तत्पर रहती है, किन्तु बेचारी सन्त के सम्मुख हमेशा डरती रहती है । (यदि) संत भागता है तो यह उसका पीछा करती है (किन्तु) गुरु के प्रसाद से यह संत की मार से भयभीत रहती है । (यद्यपि) यह स्त्री शाक्त की अंगरक्षिका है, किन्तु हमें यह भूखी-प्यासी डाइन ही दृष्टि-गत होती है ।

साधु के रूप में माया

"सासु की दुखी ससुर की पिआरी जेठ के नामि डरउ रे ।
सखी सहेली ननद गहेली, देवर के बिरहि जरउ रे ।।
मेरी मति बउरी, मैं रामु बिसारिओ ।
किन बिधि रहनि रहउ रे ।।"[२]

(आत्मा कहती है कि) मैं सासु (माया) से दुखी गई हूं, किन्तु ससुर(गुरु) का स्नेह मुझे प्राप्त है । मैं अपने जेठ(अज्ञान) के नाम से बहुत भयभीत रहती हूं । मेरी सखियां (इन्द्रियां) तथा ननद (मस्तिष्क ने मुझे पकड़ रखा है, किन्तु मैं अपने देवर (संत) के बिरह में जल रही हूं । जबसे मैंने राम को भुला दिया है--मेरी मति बौखला उठी है । अब मैं किस प्रकार से रहूं ।

१- रागु गौंड ७ -- संत कबीर, पृ०१७०
२- रागु आसा २५, -- संत कबीर, पृ०११५

सर्पिणी रूप में माया

सरपनी तै ऊपरि नहीं बलीआ ।
जिनि ब्रहमा बिसनु महादेउ छलीआ ।।
मारु मारु स्रपनी निरमल जलि पैठी ।
जिनि त्रिभवणु डसीअलै गुर प्रसादि डीठी ।।[१]

सर्पिणी(माया) को अत्यन्त शक्तिशालिनी कहते हुए कबीर कहते हैं कि जिसने ब्रह्मा,विष्णु तथा शिव को भी छला,उससे कोई अधिक बलवान नहीं है । यह सर्पिणी निर्मल जल(आत्मा) में घुस गई है, इसे मारो मारो । जिसने त्रिभुवन को डस लिया उसे गुरु के आशीर्वाद से मैंने देख लिया । सत्य को परख करने वाले ने ही इस सर्पिणी पर विजय प्राप्त की । यह सर्पिणी तो उसी (ब्रह्म) की बनाई हुई है । उसी की इच्छा से ही यह सबल तथा निर्बल होती है । यद्यपि यह शरीर की बस्ती में निवास करती है तथापि गुरु के प्रसाद से मैं सरलतापूर्वक उस (सर्पिणी) से मुक्ति पा गया[२] ।

ठगिनी रूप में माया

कबीर कहते हैं कि माया, महा ठगिनि है,इसे मैं अच्छी तरह जान गया । यह त्रिगुणात्मक पाश लिए हुए विचरती है तथा मधुर वचन बोलती है । यह बहु-रूपिणी है । इसी ने, विष्णु के घर लक्ष्मी के रूप में, शिव के पार्वती रूप में, पंडा के मूर्ति रूप में,तीर्थों में जल रूप में, योगी के योग-मुद्रा रूप में, राजा के रानी रूप में, कहीं संपत्ति रूप में, कहीं दारिद्र्य रूप में तथा भक्तों के भक्तिन रूप में और ब्रह्मा के ब्रह्माणी रूप में अधिकारिणी बनकर बैठी है । इस ठगिनी माया की विचित्र दशा है[३] । इतना ही नहीं, इसने सब का

१- रागु आसा १६, संत कबीर,पृ०१०६
२- रागु आसा १६, संत कबीर,पृ०१०६
३- बीजक, टीका विचारदास,पृ०१७७

शिकार कर मार डाला है । यह माया सम्पूर्ण विश्व की बहिन और भांजी बनकर बैठी है । सबसे पैर पुजवाती है, किन्तु जिन लोगों ने इसे वरण करके स्त्री बना लिया है, उनकी यह दासी हो गई है । यह तीनों लोकों की प्रियतमा माया संतों की शत्रु है ।

डांइनि रूप माया

कबीर ने माया को डांइनि कहा है तथा इसका निवास स्थल अपने मन-प्रदेश में बतलाया है ।

"इक डांइनि मेरे मन में बसै रे, नित उठि मेरे जीव कौं डसै रे ।" [१]

डांइन स्वरूप माया मेरे मानस में निवास करती है तथा नित्य प्रति उठकर मेरे जीव को डसती है-- क्षण-क्षण मेरा ह्रास करती है । यह माया, मन को सदैव विकारों में ग्रसती रहती है । ये विकार ही इसकी संतान हैं--

"या डांइनि के लरिका पांच रे, निसि दिन मोहि नचावैं नाच रे ।।" [२]

इस डांइनि के पंच पुत्रों--काम, क्रोध, लोभ, मोह तथा तृष्णा के वशीभूत होकर मेरा मन सदैव विकारवान बना रहता है । इन विकारों में उलझ कर मेरा मन बन्धन में फंसा रहता है तथा जीव को अनेक प्रकार से दुःख पहुंचाता रहता है ।

इसके अतिरिक्त कबीर ने अनेक अन्य प्रतीकों के माध्यम से माया को धोखा देने वाली तथा भ्रम में डालने वाली सिद्ध किया है ।

१- कबीर ग्रन्थावली, पृ० १६८

२- ,, पृ० १६८

माया का विस्तार

कबीर ने माया को सर्वव्यापिणी कहा है । यह 'कीड़ी कुंजर' में भी समाई हुई है । तीनों लोक में इसने एकाधिपत्य अधिकार जमा लिया है । इसका कोई विनाश नहीं कर सका ।

'कीड़ी कुंजर में रही समाई,
तीनि लोक जीत्या माया किनहुं न खाई[1] ।।'

इस नकटी (मर्यादा विहीन) माया का निवास सभी स्थानों में है और इसने सबों का शिकार कर मार डाला है । यह माया सम्पूर्ण विश्व की बहन और मांजी बनकर बैठी है[2] । इतना ही नहीं, यही सब कुछ है -- सर्वत्र इसी का पसारा है --

'माया जप तप माया जोग, माया बांधे सबही लोग ।।
माया जल थलि माया आकासि, माया व्यापित रही चहुं पासि ।।
माया माता, माया पिता अति माया अस्तरी सुता ।।'

कबीर ने माया को अत्यन्त व्यभिचारिणी कहा है । यह इतनी मोहक और आकर्षक है कि प्रयत्न करने पर भी लोग इससे पीछा नहीं छुड़ा पाते हैं । यह कभी आदर मान तथा कभी धन और संपदा के रूप में उपस्थित होकर मनुष्यों को अपने पाश में फंसाया करती है । मनुष्य, माया को आनन्द समझकर प्राणों तक का उत्सर्ग कर देता है[3] ।

१- कबीर ग्रन्थावली, पृ० १६६

२- 'सगल माहिं नकटी का वासा सगल मारि अउहेरी ।
सगलिआ की हउ बहिन मानजो जिनहिं बरी तिनु चेरी ।।
-- संत कबीर-रागु आसा४, पृ०६४

३- संपादक-- परशुराम चतुर्वेदी-- संत कबीर, पृ० १६१

कबीर ने इस माया को काल्पनिक और सारहीन कहा है । माया का बेलि के रूप में वर्णन सद् भी है और असद् भी है । क्योंकि एक ओर यह विश्व में व्याप्त आंगणि बेलि है तो दूसरी ओर बिना ब्याई हुई गाय का दूध, शशक का सींग तथा वन्ध्या-पुत्र की क्रीडा है, जिसकी सत्ता यथार्थ जगत में नितान्त काल्पनिक, असत्-रूप तथा निस्सार है[१]।

अन्त में कबीर ने इस माया-रूपी बेलि को अनिर्वचनीय कहा है । यह विरोधात्मक गुणोंवाली है , जितना ही इसे नष्ट करने का प्रयत्न किया जाता है, उतनी ही यह अधिक फलती-फूलती है और सींचने पर कुम्हिला जाती है, तात्पर्य यह कि जो इससे दूर भागने का प्रयत्न करते हैं, उन्हें यह आकृष्ट कर लेती है, किन्तु यदि इसके समीप में ही रहकर इसे ईश्वर-ध्यान रूपी जल से सींचा जाय तो स्वत: कुम्हला जाती है--

"जो काटौं तो डहडही सींचौं तो कुम्हलाय ।
इस गुणवन्ती बेलि का कुछ गुण कहा न जाय ।।"[२]

गुरु नानक देव की रचनाओं में माया का उल्लेख प्राय: कम ही मिलता है । उनके अनुसार मन की चंचल इच्छाएं ही 'माया' है, इसीलिए उन्होंने मानसिक पवित्रता पर बल दिया है । जब तक मन चंचल है तब तक कोई भी कार्य नहीं सिद्ध हो सकता, इसलिए मन पर विजय प्राप्त करना आवश्यक है । यह विजय भगवद्भक्ति द्वारा ही सम्भव है । सब वस्तुओं में भूला हुआ मन उस एक ब्रह्म में स्थिर होकर पूर्ण निश्चल हो जाता है[३]। इस चंचल मन

१-"आंगणि बेलि अकास फल, अण ब्यावर का दूध ।
ससा सींग की धुनहड़ा, रमै बांझ का पूत ।।"--क०ग्रं०, पृ०८६

२- कबीर ग्रन्थावली, पृ०८६

३- आदि ग्रन्थ, पृ०६०५

को स्थिर करने के लिए गुरु नानक देव ने योग-साधना को भी आवश्यक बतलाया है। पतंजलि के 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः' से प्रभावित होकर इन्होंने भी चित्तवृत्तियों के निरोध के लिए योग को स्वीकार किया।

संत दादू दयाल ने माया को सत् स्वरूप का बाधक बताया है। सत्य इस अंजन की टट्टी की ओट के कारण बाधित हो जाता है[१]। यह(माया) सत्य का स्वरूप ही बाधित नहीं करती,वरन् असत्य को ऐसे मोहक रूप में प्रकट करती है कि सत्य को और ध्यान ही नहीं जा पाता तथा असत्य ही सत्य रूप में प्रकट होने लगता है। जल के न रहने पर भी चमकती रेत को भ्रम-वश मृग जल मान बैठता है, परिणामतः जीवन से हाथ धोता है[२]। माया बाजीगर की पुतली की भांति है। वह पुतली के इशारे से मर्कट को जिधर चाहता है,उधर नचाता है और यह माया संसार को नचाती एवं भ्रम में डालकर नष्ट करती है--

"बाजीगर की पूतरी, ज्यूं मरकट मोह्या।
दादू माया राम की, सब जगत विगोया ।।"--दादू

कबीर की भांति दादू ने भी माया को नागिनि,डाकिनी, मायाविनी और कनक-कामिनी आदि रूपों में स्वीकार किया है। नारी नशा है, जिसके कारण सम्पूर्ण विश्व मस्त और मतवाला है--

"नारी घोंटी अमल की, अमली सब संसार।"[३]

तथा--

"मोह्या कनक अरु कामिनी, नाना-विध के रूप।"[४]

१-"बाजचिहर रचाइ हरि, रह्या अपरछन होइ।
माया पट पड़दा दिया, ताथै लखै न कोइ ।।" - दादू बा० भाग१,पृ०१२४।८३

२- दादू की बानी,भाग१,पृ०११६

३- सं०बा०सं०,भाग१,पृ०१०२ -- मलूकदास

४- दादू की बानी--भाग१,पृ०११८

मन हस्ती है तथा माया हस्तिनी है, संसार सघन बन है और इसमें मुग्ध होकर गंवार जीव निर्भयतापूर्वक घूम रहा है[1]। यह माया डाकिनी है[2]। इसने नाना रूप धारण कर कितनों को ग्रस लिया है--

'जोगिणी ह्वै जोगी गहे,सोफिणी ह्वै करि सेख ।
भगतिणि ह्वै भगता गहे, करि करि नाना भेस ।।'[3]

माया की बड़ी विचित्र दशा है । इसमें पड़कर संसार-बिना सर्प के ही डसा जाता है, बिना जल के ही डूब जाता है तथा बिना अग्नि के ही भस्मीभूत हो जाता है-- उसके विचित्र कर्तव्य के विषय में दादू का कथन है--

'बिना भुवंगम हम डसे, बिन जल डूबे जाइ ।
बिनहीं पावक ज्यों जले, दादू कछु न बसाइ ।।'

सन्त सुन्दरदास जी ने माया को अनिर्वचनीय बतलाते हुए कहा है कि स्याली ! तेरे स्याल का कोई अन्त नहीं पा सका । तूने इस माया का खेल कब से फैलाया है-- इस विषय में कुछ कहते नहीं बनता है । जिस प्रकार सरिता के जल-प्रवाह की धारा अखंडित है,उसी प्रकार यह मायामय संसार है,जो सदैव ज्यों-का-त्यों पूर्ण दिखलाई पड़ता है । जिस प्रकार दीप-शिखा भीतर-भीतर क्षीण होते हुए भी ऊपर से एक समान ही दिखलाई पड़ती है, उसी प्रकार यह संसार है । जिस प्रकार कुम्हार का चाक एक ही स्थान पर स्थिर होते हुए भी चारों ओर घूमता-सा दिखता है,उसी प्रकार यह माया का कार्य -व्यापार न होते हुए भी होता-सा प्रतीत होता है । कभी तो यह प्रकट

१- मन हस्ती माया हस्तिनी, सघन बन संसार ।
ता मैं निरभय ह्वै रह्या, दादू मुग्ध गंवार ।।--दादू की बानी,पृ०१२१

२-'दादू माया डाकनी, इन केते खाये ।'--दादू बा०,भाग१,पृ०११८

३- दादूद की बानी,पृ०१२६।१०६

हो जाती है, कभी गुप्त हो जाती है, घट-घूंघट की ओट से अपना कार्य-कलाप दिखलाती रहती है । आश्चर्य की बात है कि न दिखाई पड़ते हुए भी इस माया का विस्तार घटता नहीं, वरन् बढ़ता ही जाता है[१] ।

इस प्रकार सन्त कवियों ने माया को अद्वैतवाद की माया की भांति भ्रमात्मक और मिथ्या बताते हुए ब्रह्म की भांति निर्गुण और अनिर्वचनीय कहा है । यह, जीव को सत्-मार्ग से हटाकर इसके विपरीत भ्रम का जाल फैलाने वाली है । यह त्रिगुणात्मिका माया जीवों में भ्रम उत्पन्न कर उन्हें कंचन और कामिनी में केन्द्रित कर देती है । खाड़ का तरह मीठा होते हुए भी इसका प्रभाव विष से भी अधिक घातक है । संसार के समस्त आकर्षण एवं मन के सम्पूर्ण विकार, माया की रस्सियां हैं, जिसमें संसार के सभी जीव बंधे हुए हैं । इस बन्धन से छुटकारा पाना तभी सम्भव है, जब मनुष्य को भगवद्भक्ति का ज्ञान प्राप्त हो जाय ।

-0-

१- परशुराम चतुर्वेदी-- संत काव्य, पृ०३८७